मानवीय गरिमा और मानवाधिकार : भारतीय दृष्टिकोण

डा. धर्मेन्द्र यादव *

https://orcid.org/ 0009-0005-8808-1195

संक्षेप

नैतिक रूप मे मानवाधिकारो का इतिहास बहुत प्राचीन है एक अवधारणा के रूप में मानवाधिकार दुनिया की लगभग सभी महान संस्कृतियों में विद्यमान रहा है । यहां तक कि विश्व के लगभग समस्त धार्मिक ग्रंथों में भी मानवाधिकारों की उपलब्धता किसी न किसी रूप में हमें दिखाई देती है किंतु एक कानूनी अवधारणा के रूप में मानवाधिकार आधुनिक युग की देन है और इस रूप में इसका स्वरूप हमें पश्चिमी अवधारणा के रूप में दिखाई देता है । भारतीय परंपरा में मानवाधिकार मानवाधिकारों की यात्रा लंबी रही है सनातन काल के नैतिक अवधारणा से लेकर आधुनिक काल की कानूनी अवधारणा तक भारतीय परंपरा में मानवाधिकारों की उपलब्धता हमेशा से रही है । सनातन काल से लिखित और श्रुति साहित्य दोनों ही में यह उपलब्ध रही हैं । ऋग्वेद से लेकर रामचरितमानस तक इसकी प्रतिध्वनी स्पष्ट रूप से सुनाई देती है । भारतीय संस्कृति सनातन परंपरा और भारत के धार्मिक साहित्य, लोक साहित्य, लौकिक और अलौकिक समस्त प्रकार के साहित्य में सनातन काल से मौलिक अधिकारों की उपलब्धता रही है । कालांतर में विदेशी आक्रांताओं द्वारा बलपूर्वक समाजों पर कब्जा किया जाना और उनके राजनीतिकरण किए जाने के कारण मानवाधिकारों के सामने गंभीर संकट उत्पन्न हुआ जिसका निराकरण मे भारतीय संविधान की स्थापना और उसमें मानवाधिकारों के स्पष्ट घोषणा मानवाधिकारों को मौलिक अधिकारों के रूप में मान्यता के साथ प्राप्त होती है ।

मानवाधिकारों के भारतीय हिंदू दृष्टिकोण को संयुक्त राष्ट्र संघ सहित विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं ने मान्यता प्रदान की है तथा उसे स्वीकार किया है इसके अलावा विश्व के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों ऑक्सफोर्ड कैंब्रिज जॉन्स हापकिंस, हार्वर्ड आदि में मानवाधिकारों के बारे में हिंदू दृष्टिकोण अध्ययन के प्रमुख विषय विषय के रूप मे अध्ययन मानवाधिकारो की अवधारणात्मक श्रृंखला का महत्वपूर्ण हिस्सा है ।

महत्वपूर्ण शब्दावली : भारतीय, भारतीय परम्परा, धार्मिक साहित्य,हिन्दू दृष्टिकोण, मानवाधिकार, सनातन,।

*असिस्टेंट प्रोफेसर समाजशास्त्र, विशेष कर्तव्यस्थ अधिकारी, उच्च शिक्षा विभाग, छत्तीसगढ़ शासन

9827109090

मानवाधिकारो की पश्चिमी अवधारणा पुनर्जागरण के पश्चात जो वैज्ञानिक प्रगति हुई उसमें व्यक्ति के अधिकारों की मांग और स्थापना के साथ शुरू होती है । पुनर्जागरण के पश्चात जो व्यक्तिगत तर्क बुद्धि का विद्रोह मुखरित हुआ वह पश्चिमी जीवन के समस्त पक्षियों पर न केवल स्पष्ट दिखाई देता है बल्कि उसकी छाप इतनी प्रबल थी की प्रगति का आधार ही वैयक्तिक प्रयासों, व्यक्ति की गरिमा, और व्यक्तिगत अधिकारों को मान लिया गया । व्यक्ति का राज्य और समाज के प्रति तार्किक विद्रोह इतना प्रबल था कि समाज और राज्य की भूमिका ही यह मानी गई कि वह व्यक्ति को न केवल उसके उसके अधिकार प्रदान करें बल्कि उसकी सुरक्षा भी करें । राज्य का यह पवित्र कर्तव्य माना गया कि वह नागरिकों को व्यक्तियों को अधिकार प्रदान करें और उनकी रक्षा करें राज्य के जन्म लेने का प्रयोजन ही यही है इसलिए पश्चिम में नागरिक अधिकारों मानवाधिकारों की अवधारणा कानूनी है, क्योंकि राज्य इस को कानूनी रूप से उपलब्ध कराने की गारंटी देता है । मानवाधिकारो की इसी कानूनी अवधारणा को मानवाधिकारों के रूप में विश्व में प्रचारित किया गया । द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दुनिया के अधिकांश देशों ने उपनिवेशवादी शासकों से स्वतंत्र प्राप्त की मानवाधिकारों की इसी कानूनी अवधारणा का प्रचार प्रसार इन नव स्वतंत्र देशों में भी किया गया । जबकि वास्तविकता यह है एशिया अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के अधिकांश गुलाम देश महान संस्कृति वाले देश रहे हैं । मेसोपोटामिया चीन भारत मिस्र लेटिन अमेरिका की माया सभ्यता उस युग में आध्यात्मिक एवं भौतिक उन्नति की पराकाष्ठा पर थी जब पश्चिम में अभी सभ्यता के बीच प्रस्फुटित हो रहे थे । इसलिए इसलिए इन देशों में मानवाधिकारों की कानूनी अवधारणा का संघर्ष उनकी सनातन नैतिक अवधारणा से हुआ । भारतीय संदर्भ में यह बात अधिक प्रखरता के साथ दिखाई देती है भारत में हिंदू परंपरा में मानवाधिकार आध्यात्मिक रूप से स्थापित रहे हैं। ऋग्वेद से लेकर आधुनिक साहित्य तक प्रत्येक देश काल परिस्थिति में मानवाधिकारों की उपलब्धता हमें भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार के साहित्य में प्रचुर मात्रा में दिखाई देती है । भारत में मानवाधिकार समाज का दायित्व माने गए न कि राज्य का और व्यक्ति का । सर्वे भवंतु सुखिनः की अवधारणा वैश्विक कल्याण की ओर इंगित करती है।

अतः भारत में परिवार और ब्रह्मांड में भेद नहीं किया गया भारत में विश्व की अवधारणा संसार की अवधारणा ही एक व्यापक प्रवेश लिए हुए हैं

मानवीयता सर्वोच्च मूल्य

हिंदू परंपरा में सनातन काल से माननीय था सर्वोच्च मुल्ले रहा है मनुष्य का मनुष्य के रूप में मान और मनुष्य के रूप में उसके साथ व्यवहार यह सनातन संस्कृति का सर्वोच्च मूल्य रहा है जिसके प्रतिध्वनी हमें विभिन्न भारतीय साहित्य में दिखाई देती है । वस्तुतः मानवाधिकार को आधुनिक मूल्य मानकर इस क्षेत्र में हम प्रायः पश्चिम की ओर देखते हैं तथा उन्ही की नकल करने का प्रयास करते है। जबकि भारतीय संस्कृति की सनातन धारा में मानवीय मूल्य सहस्त्राब्दियों से रचे बसे है। यवन, शक, हुण, कुषाण, मुगल अनेक प्रजातियां इसमें समाहित है। यह दर्शनों का दर्शन है '' भिन्नैष्वैक्यहय दर्शनम'' (शुक्ला 1999)

देशकाल की सीमाओं से परे यहां सम्पूर्ण धरती को ही कुटुम्ब माना गया है

अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम।

उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम।।

यह इतना मेरा, वह उतना तुम्हारा है इस तरह का हिसाब विभाजन की वृत्ति प्रकट करता है। यह वृत्ति संकुचित, अल्प हृदय के व्यक्तियों की होती है। जिनका हृदय उदार होता है, जीवन व्यापक होता है उनके लिये सम्पूर्ण वसुधा का एक ही छोटा सा परिवार–कुटुम्ब बनकर रह जाता है।
(शर्मा 2010)

मानव मानव में भेद भारतीय संस्कृति में कमी स्वीकार्य नहीं था । विश्व के सम्पूर्ण मानवों को एक ही परिवार का सदस्य मानकर दया, प्रेम और सहयोग को आधार माना –

"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चौवावधार्यताम्।'
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।
(हे, मनुष्यों) धर्मका सार सुनो और सुनकर धारण करो कि जो व्यवहार हम अपने लिये नहीं चाहते, उसको दूसरों के प्रति न करें।' (पद्मपुराण 2019)

अर्थात् जो स्वयं को प्रिय न हो वैसा आचारण दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए । इस प्रकार दूसरे को समतुल्य मानना और अहिसंक व्यवहार यह भारतीय संस्कृतिक के मूल में है । न केवल मानव बल्कि समस्त चराचर जगत में जो भी दृश्यमान है सबके सुख की कामना भारतीय संस्कृति में की गयी है ।

ऋग्वेद में पुरुष को समस्त तत्वों का हेतु माना गया है "प्ररूष एवेदं यद् भूतं यच्च भाव्यम'' । वर्तमान में जो कुछ है, अतीत में जो कुछ था और भविष्य में जो होनेवाला है कृ यह सब केवल अनन्त पुरुष ही है।
(श्वेताश्वतरोपनिषद तृतीय अध्याय)
इसी प्रकार न केवल मनुष्य बल्कि समस्त जीव जगत के अधिकारों का सम्मान करते हुए कहा गया है कि –
सर्वे भूतेष्वनु क्रोशं कुर्वतस्य भारत ।
आनृशंस्य प्रवृतस्य सर्वावस्थं पदं भवेत ।।
अर्थात् जो समस्त प्राणियों पर दया करता है तथा क्रूरता रहित कर्म करता है उसे सभी आश्रमों के सेवक का फल मिलता है ।

जीव एवं शिव का ऐक्य

मानव अधिकारों की पश्चिमी अवधारणा नकारात्मकता पर आधारित हरिया मानकर चलता है कि व्यक्तिगत स्तर पर लोगों को अधिकार प्राप्त नहीं है और निम्न और उसका भेद विद्यमान है जो कि भारतीय संस्कृति में कर्ण और परिमाण में भेद नहीं किया क्या जो लघु है वही वृहद है जो जीव है वही शिव है यहां तक कि आत्मा और परमात्मा व्यक्ति और उसके स्रष्टा में भी भेज नहीं किया क्या अहम् ब्रह्मास्मि आत्मा एवं ब्रह्म आदि महान उद्घोष भारतीय संस्कृति के आधार स्तंभ रहे हैं इसमें जी और शिव में अवैध है शंकर का संपूर्ण अद्वैत वेदांत का दर्शन ही इसी जी और शिव की एकता पर आधारित है इसमें श्रेष्ठ और कनिष्ठ लघु और विशाल और परिमाण का कोई भेद नहीं है जो मैं हूं वही तुम हो मैं तुम हम इन सब का कोई भेद नहीं है और ऐसा केवल सिद्धांत में नहीं बल्कि शताब्दियों

तक व्यवहार में रहा है स्मृतियों कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मनु की मनुस्मृति सहित एक प्राचीन ग्रंथ है बताते हैं समानता व्यावहारिक रूप में विद्यमान थी

इ शवस्यामिदं सर्वं यत्किंच जगत्यं जगत्
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा क्रोधः कस्यस्विद्धनम् ।।
(ईशावास्योपनिषद)

यह श्लोक इस बात पर जोर देता है कि इस संसार और उसके परे जो कुछ भी स्पष्ट या विद्यमान है, वह परमात्मा का निवास है। इसके बाद यह मनुष्यों को इस दुनिया से खुद को अलग करने के लिए प्रोत्साहित करता है ताकि वे केवल वही ले सकें जो उनके धार्मिक जीविका के लिए आवश्यक है। इसका समापन उस चीज से दूर रहने के निषेध के साथ होता है जो आपकी नहीं है। इसी प्रकार ऋग्वेद मे कहा गया है कि ''आपके संकल्पों, दिल और दिमाग में एकता होय आप सभी में आपसी सहयोग से जीने का संकल्प दृढ़ रहे।"

समानी व आकूंतिः समाना हृदंयानि वः ।
समानमंस्तु वो मनो यथा वः सुसहासंति ॥
अर्थात् मनुष्यों की अहम्मन्यता एक जैसी हो, हृदय में संकल्पित व्यवहार एक जैसे हों, मन समान होना चाहिये, यह परस्पर सहयोग में आवश्यक है, मनुष्यों का परस्पर सहयोग में रहना ही मानवता है, यह जानना चाहिए ॥४॥

॥इति॥
(ऋग्वेद)

अशोक ने द्वितीय शिलालेख में पूछता है कि धर्म क्या है – कियंचू धम्मे ? इसका उत्तर देते हुए द्वीतीय शिलालेख में लिखा गया है कि अपासिने बहु कथाने दया दाने सचे सोचये । (पाण्डेय)
''मानव अधिकारोंध्गरिमा को बौद्ध धर्म में मनुष्यों की स्वयं को पीड़ा से मुक्त करने की स्वतंत्रता के हिस्से के रूप में आधार बनाया जा सकता है। लेकिन विभिन्न बौद्ध मतो में इस स्वतंत्रता के प्रति स्पष्ट रूप से भिन्न दृष्टिकोण हैं। प्रारंभिक बौद्ध धर्म में, गरिमा को एक मूल्य के रूप में देखा जा सकता है जो प्रत्येक व्यक्ति की स्वयं को पीड़ा से मुक्त करने की क्षमता के कारण आंतरिक रूप से उत्पन्न होता है। निशितानी कीजी के जेन दर्शन में, गरिमा हर किसी को ऑन्टोलॉजिकल रूप से साझा पीड़ा से मुक्त करने की क्षमता है, जैसा कि थिच नहत हान के बौद्ध धर्म में है। इसके बाद, अध्याय बौद्ध धर्म के दो बहुत ही सामान्य रूपों की जांच करता है जिन्हें अक्सर अधिकारोंध्गरिमापूर्ण प्रवचनों में उपेक्षित किया जाता है – उद्धारक बौद्ध धर्म (शुद्ध भूमि) और कन्फ्यूशियस बौद्ध धर्म। तानबे हाजीम के उद्धारकारी बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण में, ''गरिमा'' स्वयं स्वतंत्रता प्राप्त करने के बारे में नहीं है, बल्कि किसी अन्य शक्ति द्वारा बचाए जाने और उस मुक्ति के लिए मध्यस्थ बनने के बारे में है। वात्सुजी तेत्सुरो के कन्फ्यूशियस बौद्ध धर्म में, गरिमा को अपने समुदाय की सेवा के लिए किसी के अहंकार से मुक्त होने की क्षमता के रूप में देखा जाता है। ये सभी मानवीय गरिमा के प्रति स्पष्ट रूप से अलग–अलग नैतिक दृष्टिकोण दिखाते हैं – और सूकी फुमिहिको हमें चेतावनी देते हैं कि हमें इन बौद्ध धर्मों के पार–नैतिक पक्ष को याद नहीं करना चाहिए। '' (केम्ब्रिज.आर्ग)

मानवाधिकारों के उल्लघंन में सर्वाधिक संख्या दलित अत्याचार की है। किन्तु भारतीय संस्कृति, के दलित की अवधारणा कभी भी नही रही । बल्कि कहा गया है ''जन्मना जायते शूद्रः संस्कारेत द्विज उच्चयते'' अर्थात् जन्म से सभी शूद्र है केवल संस्कारों से ही कोई द्विज बनता है। (स्कंदपुराण)

भारतीय परम्परा सामाजिक न्याय पर आधारित रही है। उनमें ऊंच–नीच का नहीं रहा है। सामाजिक कर्तव्य पालन व्यवहार में ये एक दूसरे के सहयोग की वेदकालीन राजा 'सुदास' शूद्र थे । शूद्र भी किसी न किसी प्रकार के द्विज थे । महाभारत के वनपर्व में युधिष्ठिर यक्ष संवाद इस संदर्भ में उल्लेनीय है –
"जाति रत्न महासर्प मनुष्यत्वे महामते । संकरात्वात्सर्वर्णानां दुष्परीक्ष्येति में भतिः।।
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयंति सदा नराःद्यद्य
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदर्युं तत्वदिर्शनः ।
अर्थात् शील प्रधान व चरित्र प्रधान मनुष्य ही उच्च है। जाति गौण है। भारतीय संस्कृति में सभी युगो में विचार स्वातन्त्रय एवं उपासना स्वातन्त्र भावनाओं की पूजा की गयी। गौतम धर्म सूत्र में वर्णित है कि राजा का विशिट उत्तरदायित्व है सभी प्राणियों की रक्षा करना, न्यायोचित दण्ड देना, शास्त्र–विहीत नियमों के अनुसार रक्षा करना तथा पथ भ्रष्ट लोगों को सन्मार्ग दिखाना ।

कौटिल्य अर्थशास्त्र, महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों ने प्रजा के अधिकारो के रक्षण हेतु राजा के समक्ष एक आदर्श प्रतिमान उपस्थित किया गया है। प्रजा के सुख में राजा का सुख प्रजा के हित में ही राजा का हित है । विष्णु धर्म सूत्र में भी यही बात की गयी है। मारकण्डेय पुराण में राजा मरूत की मातामही ने उसे सावधान किया है। ''राजा का शरीर आमोद–प्रमोद लिए नहीं बना है, प्रत्युत वह कर्तव्य–पालन करने तथा पृथ्वी की रक्षा करने के प्रत्यन्त मे हर कष्ट सहने के लिए है।

मानवाधिकार की संरक्षण व संवर्द्धन हेतु दण्ड, सजा की भी व्यवस्था आवश्यक राजा को शास्त्रविहित ढंग से दण्ड देना चाहिए। चूंकि दण्ड ही राजा है, दण्ड ही पुरुष है, दण्ड ही नेता है, वही दण्ड शासन करने वाला है। दण्ड का उचित प्रयोग ही शासक की ढाल है। कल्याणकारी राज्य की संकल्पना मनु के राज व्यवस्था में भी देखने को मिलती है। राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा रक्षण, पालन तथा विद्वानों का सत्कार करना है। राज्य की रक्षा करने वाला राजा पूज्यनीय है। मनु के विचारों का सारांश यह है कि राज्य साधन है, साध्य नहीं, राज्य समाज व राष्ट्र हेतु अनिवार्य है, राज्य शोषण का अभिवावक नही, सामाजिक निमाण का अनिवार्य साधन है, राज्य एक व्यापक, संस्था है जिसमें समाज का पूर्ण व्यवहार आ जाता है। प्रजा को नागरिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, धार्मिक सभी अधिकार प्राप्त थे, राजा–प्रजा का संबंध पिता–पुत्र का था ।
प्राचीन शिक्षण पद्धति का अवलोकन करने से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि अध्ययन हेतु पहले से ही कोई शुल्क नहीं निर्धारित था। बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित है कि जनक जब याज्ञवल्क्य को गुरू दक्षिणा देते है तो याज्ञवल्क्य कहते है कि मेरे पिता का मत था कि बिना पूर्ण पढ़ाये शिष्य से कोई पुरस्कार नहीं लेना चाहिए। आपस्यम्ब धर्मसूत्र में वर्णित है कि शिष्य को अपनी योग्यतानुसार गुरू को दक्षिणा देनी चाहिए ।

स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार था। मध्य एवं वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीन काल में स्त्रियों की शिक्षा संबंधी व्यवस्था कही उच्चतर थी। स्त्रियों ने तो वैदिक ऋचाओं तक की रचना की है यथा अत्रिकुल की विश्वारा ने ऋग्वेद 2/28 अंश की रचना की । उसी कुल की अपाला ने ऋग्वेद के 8/91 अंश की रचना की । ऋग्वेद के 10/39 अंश घोषा काक्षीवती के नाम से जाना जाता है।उपनिषद में विदेह राजा जनक की राजसभा में हुए शास्त्रार्थ में गार्गी, वाचक्नवी का नाम बड़े श्रद्धा से लिया जाता है। नारी शिक्षिकाओं की भी परम्परा रही है पाणिनी ने आचार्या एवं उपाध्याया जैसे शब्दों की व्युत्पत्ति की है। सूत्र काल में स्त्रियां वेद के मंत्रों का उच्चारण करती है । ऋग्देव मण्डल में अदिति आदित्यों की माता है । धावा–पृथिवी में पृथ्वी सभी देवाओं की जननी है । उषा, श्रद्धा, वाक् आदि का उदात्त वर्णन ऋग्वेद में उल्लिखित है । विश्ववारा घोषा, अपाला, लोपा मुद्रा आदि विदुषी स्त्रियां इस तथ्य को उजाकर करती है कि उस समय की स्त्रियों को प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार प्राप्त था। मनुस्मृति में वर्णित है कि उपाध्याय से आचार्य दस गुना, आचार्य से पिता सौ गुना और पिता से माता सहस्त्रगुना बढ़कर पूजा के योग्य है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महान प्रचारक श्री हर्बर्ट स्पेंडर कहते हैं कि महिलाओं की स्थिति लोगों की सभ्यता की अच्छी परीक्षा देती है। भारत में महिलाओं को सदैव बहुत सम्माननीय स्थान प्राप्त रहा है। प्रोफेसर एचएच विल्सन कहते हैंः ''यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि प्राचीन काल के किसी भी देश में महिलाओं को इतना सम्मान नहीं दिया जाता था जितना कि हिंदुओं में।'' (मिल्स हिस्ट्री ऑफ भारत , खंड प्प) हिंदू धर्म में भगवान साकार रूप में अर्थ नारीश्वर और निराकार में लिंग–मुक्त हैं। शास्त्रीय हिंदू साहित्य में महिलाओं को पुरुषों के साथ न केवल समान अवसर और विशेषाधिकार प्राप्त थेय उन्हें ऐसे अधिकार भी प्राप्त थे जो उनके समकक्षों को उपलब्ध नहीं थे। हिंदू सामाजिक संहिताओं पर सबसे महान कृति मनु स्मृति घोषित करती हैः यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः – ''जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवदूत कदम रखते हैं''। हिंदू धर्म के इस महान कानून निर्माता ने पत्नी की स्थिति और उसके समान अधिकारों को इस प्रकार परिभाषित कियाः यदि किसी पत्नी की मृत्यु हो जाती है, तो उसका पति दूसरी पत्नी से विवाह कर सकता है। (मनु , अध्याय 5 श्लोक 168)। यदि एक पति की मृत्यु हो जाती है, तो एक पत्नी दूसरे पति से विवाह कर सकती है। (मनु , माधव और विद्यानाथ दीक्षित द्वारा उद्धृतय पराशरय नारदय याज्ञवल्क्यय अग्नि पुराण) यदि कोई पत्नी नशे या अनैतिक काम में पड़ जाए तो उसका पति दूसरी शादी कर सकता है। (मनु , अध्याय प्प, श्लोक 80)। यदि पति पतित हो जाए तो पत्नी दूसरे पति से पुनर्विवाह कर सकती है। (मनु , माधव और कई अन्य विद्वानों द्वारा उद्धृत) विशेष परिस्थितियों में, पत्नी अपने पति के साथ रहना बंद कर सकती है। (मनु , अध्याय प्प, श्लोक 79) यदि कोई पति अपनी पत्नी को छोड़ देता है, तो वह दूसरी शादी कर सकती है। (मनु , अध्याय IX, श्लोक 76 और कई अन्य)''

(राममाधव : 2012)

इसी प्रकार अंहिसा को एक मात्र सर्वोत्तम प्ररूषार्थ माना गया है "अहिंसा एवैकः पुरुषार्थः।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में मानवीय मूल्यों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।"सभी मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुए हैं और गरिमा और अधिकारों में समान हैं। वे तर्क और विवेक से संपन्न हैं और उन्हें एक–दूसरे के प्रति भाईचारे की भावना से काम करना चाहिए।

अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम्
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्

इसमें कहा गया हैः "छोटे और संकीर्ण सोच वाले लोग वास्तविकता को 'यह तुम्हारा है और यह मेरा है' के संदर्भ में देखते हैंय उच्च चेतना वाले लोगों के लिए पूरा विश्व एक परिवार है।"
''राजा को वेदों के विश्वासियों (नायगामों) के साथ–साथ गैर–विश्वासियों (पाशंडियों) और अन्य लोगों के संघों को सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए '' (नारद स्मृति, धर्म कोष)
संक्षेप में कहें तो, हिंदू वैश्विक विविधता को दैवीय खेल के रूप में मानता है और वैश्विक मानक संस्कृति स्थापित करने की कोशिश करने के बजाय इसे संरक्षित और समृद्ध करने का प्रयास करता है। (सुभाष कश्यप 2007)
तैत्तरेय उपनिषद में शिक्षावल्ली (शिक्षा पर अध्याय) में जगह पाने वाली एक और प्रार्थना भी बहुत महत्वपूर्ण है।

प्रजासुखे सुखं राजनः प्रजानां च हिते हितम्
नात्मप्रियं हितं राजनः प्रजानां तु प्रियं हितम्
"प्रजा की खुशी में राजा की खुशी निहित हैय उनके कल्याण में उनका कल्याण. राजा को जो अच्छा लगता है उसे अच्छा नहीं मानेगाय जो कुछ भी उसकी प्रजा को प्रसन्न करता है वही उसके लिए अच्छा है" (अर्थशास्त्र)

जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्चते
वेदपाठी भवेत् विप्रः ब्रह्म ज्ञानति ब्राह्मणः

"जन्म से तो सभी शूद्र ही होते हैं. कर्मों से मनुष्य द्विज बनते हैं । वेदों को पढ़ने से व्यक्ति विप्र बन जाता है और ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करके ब्राह्मण बन जाता है।
महाभारत में शांतिपर्व कुछ जातियों के दूसरों से श्रेष्ठ होने के विचार को स्पष्ट रूप से खारिज करता है ।
महाभारत के वनपर्व में एक प्रसंग इस प्रकार हैः "जिसमें सत्य, उदारता, क्षमा, नम्रता, क्रूर कर्मों से विरत रहना, चिंतन और परोपकार जैसे गुण देखे जाते हैं, उसे स्मृति में ब्राह्मण कहा जाता है । " कोई व्यक्ति शूद्र होने से शूद्र (नीची जाति) नहीं होता और न ही ब्राह्मण होने से ब्राह्मण होता है ।" महाभारत में शांतिपर्व कुछ जातियों के दूसरों से श्रेष्ठ होने के विचार को स्पष्ट रूप से खारिज करता है ।

न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्म्यामिदं जगत्
ब्राह्मण पूर्व सृष्टिं हि कर्मभिः वर्णतम् गतम् ।।

"जाति का कोई भेद नहीं है। ईश्वरीय चेतना संसार में सर्वव्यापी है। पहले तो यह पूर्णतः ब्राह्मणवादी था। वर्णों का उद्भव मनुष्य के कर्मों के फलस्वरूप हुआ है।"
1881 में बर्लिन में इंटरनेशनल कांग्रेस ऑफ ओरिएंटलिस्ट्स के समक्ष पढ़े गए अपने पेपर में, एक प्रसिद्ध विद्वान श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने कहाः
" उदाहरण के लिए, हम ऐतेरीय ब्राह्मण (ii.3-19) में पढ़ते हैं, कि कवश ऐलुशा, जो एक शूद्र था और एक नीच महिला का बेटा था, को उसकी साहित्यिक उपलब्धियों के लिए बहुत सम्मान दिया गया था, और उसे ऋषियों की श्रेणी में शामिल किया गया था – पूर्व– प्रमुख हिंदू संत. शायद उनके जीवन की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने, शूद्र के रूप में, ऋग्वेद के कुछ भजनों के ऋषि के रूप में खुद को प्रतिष्ठित किया (ऋग , X-

30–40)। छांदोग्योपनिषद में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जाबाला, जिसे सत्य काम भी कहा जाता है, का कोई गोत्र या पारिवारिक नाम नहीं था (चं. उप ., चतुर्थ. 4)। यद्यपि जाबाला अज्ञात माता–पिता से पैदा हुआ था, लेकिन कहा जाता है कि उसने यजुर वेद के एक स्कूल की स्थापना की थी । यहां तक कि आपस्तंभ सूत्र (II. 5–10) और मनु स्मृति (X 65) में भी हम पाते हैं कि एक शूद्र ब्राह्मण बन सकता है और एक ब्राह्मण शूद्र बन सकता है । (हरबिलास शारदा, हिंदू सुपीरियरिटी) व्यास, वाल्मिकी और विश्व कर्मा से लेकर आज के संतों तक अनगिनत प्रख्यात ऋषि मिलते हैं जो वर्ण के अनुसार शूद्र हैं । यहां तक कि महान यूनानी इतिहासकार मेगस्थनीज ने भी लिखा है कि हिंदुओं में चार जातियां थीं और किसी भी जाति का हिंदू सोफिस्ट (ब्राह्मण) बन सकता है।'' (राममाधव 2012)

निष्कर्ष

वस्तुतः पश्चिम का समस्त सामाजिक राजनीतिक आर्थिक चिंतन व्यक्तिवाद की नीव पर खड़ा है, और यदि यह कहा जाए कि यह प्रोटेस्टेंटवाद की नीव पर खड़ा है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि यूरोप में पूंजीवाद के विकास और औद्योगिक क्रांति आदि के लिए मैक्स वेबर जैसे महान समाजशास्त्री ने प्रोटेस्टेंटवाद को ही निर्णायक कारक माना है । अतः प्रोटेस्टेंटवाद जनित, उदारवाद व व्यक्तिवाद तथा व्यक्तिवादी दर्शन के कारण पश्चिम की विश्लेषण दृष्टि भी व्यक्तिवादी है । अतः वह समूहो, वर्गों ,समुदायों आदि आधारित व्यवस्थाओं को सदैव संशय की दृष्टि से देखते हैं । इसी कारण उनका दृष्टिकोण नितांत व्यक्तिवादी है और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के कारण पश्चिम ने सामाजिक राजनीतिक अवधारणाओं के प्रति एक अपेक्षाकृत पूर्वाग्रहित दृष्टि विकसित कर ली । इस पूर्वाग्रह जिला के कारण ही मानव अधिकार, मानवीय गरिमा, स्त्री अधिकार ,सहिष्णु समाज, सिविल सोसाइटी इत्यादि के बारे में पश्चिम अवधारणा व व्यक्तिवादी विश्लेषण को अकादमी जगत में लगभग थोप दिया गया । परिणामतः पूर्वी दुनिया के विश्लेषण कर्ता भी मानवीय गरिमा व मानवाधिकार जैसे संविधानशील विषय का विश्लेषण पश्चिमी दृ ष्टिकोण से ही करते हैं । भारत जैसे देश में जो सनातन काल से धर्म प्राण और संस्कृति प्रधान देश रहा है, वहां किसी भी प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक गतिविधि धर्म और संस्कृति से पृथक और मुक्त नहीं हो सकती । इसी कारण महात्मा गांधी धर्म से मुक्त राजनीति को उचित नहीं मानते थे, उनके लिए धर्म और राजनीति एक ही सिक्के की दो पक्ष हैं , क्योंकि महात्मा गांधी की धर्म और राजनीति की व्याख्या नैतिकता आधारित है और यही भारत की सनातन संस्कृति की परंपरा रही है । एक अत्यधिक बहुलता व्याप्त देश होने के बावजूद सनातन काल से भारत एक सांस्कृतिक राष्ट्र रहा जिसमें व्यक्ति, समुदाय, जाति, लिंग भेद के लिए कोई स्थान नहीं रहा है । यद्यपि देशकाल परिस्थितियों के अनुसार इसमें समस्याएं उत्पन्न हुई है लेकिन ऐसी समस्याएं उसकी सनातन जीवंत प्रवृत्ति को बाधित नहीं कर पायी । इसी कारण विश्व की विभिन्न संस्कृतियां जो भारत आयीं, वह भारत की सनातन संस्कृ ति में समाहित हो गई । अतः व्यक्ति की गरिमा और मानवाधिकार भारतीय संस्कृति और भारतीय समाज की मौलिक विशेषता है । इसी कारण सहस्त्रो वर्षों से भारतीय समाज भारतीय संस्कृति अपने सनातन मूल्य के साथ पूर्ण सातत्य के साथ विद्यमान है ।

संदर्भ :

- गांधी मो करमचन्द (1926) : यंग इंडिया; 08/04/1926)
- शुक्ला गायत्री (1999) : *मिमांसा दर्शन मे विधिभिन्न वेदवाक्य* - इन्दिरा प्रकाशन इलाहाबाद.
- शर्मा सुभाष (2010) दलित और दलित साहित्य :
- कुछ गंभीर मुद्दे - हिन्दी लैंग्वेज डिस्कोर्स राइटिंग मे नीहित। वोल्यूम 4 जनवरी-मार्च 2010 महात्मा गांधी अन्तर्ष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
- श्री पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अध्याय 19 : 2010 गीताप्रेस गोरखपुर
- श्वेताश्वतरोपनिषद तृतीय अध्याय https://upanishads.org.in/upanishads/9/3/15#
- **ईशावास्योपनिषद श्लोक 1**
- **https://upanishads.org.in/upanishads/1/1**
- ऋग्वेद , मंडल-10, सूक्त-191, मंत्र-4)
- राम माधव (2012) : मानवाधिकार और मानव गरिमा के बारे में हिंदू दृष्टिकोण । धर्म के समकालीन दर्शन पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन,मानविकी और सांस्कृतिक अध्ययन संस्थान, दिसंबर, 23-24, 2012, तेहरान, ईरान
- https://xn--j2b3a4c.com/en/rigveda/10/191/4
- https://www.cambridge.org/core/books/abs/human-dignity-in-asia/buddhist-philosophical-approaches-to-human-dignity/D107AC3C175B81B0F562F2AFFE51331A
- स्कंदपुराण श्लोक 6.1.239.31 गीताप्रेस गोरखपुर ।
- सुभाष कश्यप 2007 : भारत को समझना - हिंदू धर्म की प्रासंगिकता । दिल्ली ।